
इकाई 2 तन्त्रयुक्तियों का परिचय एवं विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 अनुसंधान का अर्थ एवं अवधारणा
- 2.3 शास्त्र
 - 2.3.1 तन्त्रयुक्ति प्रयोजन
- 2.4 सारांश
- 2.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 2.6 सन्दर्भग्रन्थ
- 2.7 बोधप्रश्न

2.0 उद्देश्य

तन्त्रयुक्ति संस्कृत में अर्थ है शास्त्र कार्यों की रचना करने की पद्धति। प्राचीन भारतीय व्यापक रूप से और सही ढंग से ज्ञान की खोज के लिए जाने जाते हैं। हमारे ऋषि-महर्षि एक शास्त्र के निर्माण में नियम निर्धारित किए, शास्त्र को क्रमबद्ध तरीके से पेश किया। किसी भी दिए गए विषय के सभी पहलुओं या लक्षणों को परिभाषित किया, किसी विशेष विषय के बारे में पिछले साहित्य का सन्दर्भ दिया, नए विचारों और सिद्धान्तों प्रस्तुत किया जिससे रचना की एक व्यापक पद्धति स्थापित हुई जिसमें शास्त्रों की व्याख्या करना। ऐसी पद्धतियाँ आधुनिक वैज्ञानिक रचनाओं एवं ग्रन्थों में देखने को मिलती। इनमें प्राप्त समस्त सिद्धान्त जीव के वास्तविक स्वरूप का अवबोधन कराने का कार्य करते हैं।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात्—

- आप प्रमुख तन्त्रयुक्तियों के सिद्धान्तों के बारे में जान सकेंगे।
- प्रमुख तन्त्रयुक्तियों को भली-भाँति समझ पायेंगे।
- तन्त्रयुक्तियों के स्वरूप को परिभाषित करने में समर्थ हो सकेंगे।
- शास्त्र योजना को समझने के लिए जिस विश्लेषणात्मक पद्धति एवं प्रक्रिया की आवश्यकता होती है उस प्रक्रिया को समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

अनुसंधान मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का हिस्सा है। जो प्रश्न अथवा संभावनाएँ मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होती हैं। उनके मूल तथ्यों की वह खोज करता है। प्रत्येक क्षेत्र में शोध हो और सामाजिक समस्याओं का स्पष्ट वैज्ञानिक, सैद्धान्तिक ढांचा उभरे, यही शोध का आधार है। मात्र मौलिक अथवा नवीन समस्याओं से जुड़े ज्ञान की खोज ही अनुसंधान का लक्ष्य नहीं है बल्कि सम्भावनात्मक तथा समन्वयात्मक ज्ञान की खोज भी अनुसंधान का लक्ष्य है।

पश्चिम में वैज्ञानिक पद्धति का प्रारम्भ पुर्नजागरण से होता है। भारत में यह परम्परा काफी पुरानी है। आश्रमों में जो ज्ञानविज्ञान पलता था अथवा जिसका परीक्षण एवं विकास होता था वह वैज्ञानिक होने के साथ साथ वैज्ञानिक पद्धतियुक्त भी होता था। वैदिक ज्ञान निगम तथा तन्त्रज्ञान को आगम के रूप में जाना जाता था। अतः आगमपन तथा निगमन पद्धतियों के स्रोत भी वेद एवं आगम है। अब प्रश्न उठता है कि क्या भारतीय ज्ञान के अध्ययन में अनुसंधान पद्धतियों का उपयोग होता था? उत्तर है हाँ होता था। और विकसित रूप में प्रयुक्त हुआ है इसे पारिभाषिक रूप में तन्त्रयुक्ति कहा जाता है। आधुनिक अनुसंधान पद्धतियों में सभी का उपयोग प्राचीन भारतीय अध्ययन में नहीं हो सकता मात्र कुछ अनुसंधान पद्धतियाँ ही उपयोगी हो सकती हैं। किन्तु तन्त्रयुक्ति/भारतीय वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग सभी प्रकार के अध्ययन में हो सकता है। आइये तन्त्रयुक्ति पर विचार करें—

ब्रह्मण्ड के ग्रहों, पिण्डों तथा प्रत्येक वस्तुओं में एक नियम बद्धता है। इसी नियमबद्धता से जुड़े मामलों का ज्ञान भी एक संगठित संरचना से प्राप्त होती है। जिसे आप प्रमाण व्यवस्था कहते हैं। इस प्रमाण व्यवस्था से प्राप्त ज्ञान को प्रस्तुत करने की व्यवस्था को आप शास्त्र के रूप में प्राप्त करते हैं। इन शास्त्र-रचना की पद्धति को तन्त्रयुक्ति के नाम से जाना जाता था। शास्त्र-रचना के सिद्धान्तों के प्रयोग से ही शास्त्र लेखन हुआ करता था।

तन्त्रयुक्ति शब्द व्यावहारिक रूप से सभी भारतीय शास्त्रकारों द्वारा उपयोग किया जाता है, इसमें शास्त्रों की रचना के लिए अनुसंधान का एक समूह शामिल है। तन्त्रयुक्ति दो शब्दों से तन्त्र एवं युक्ति से मिलकर बना है।

भाषा चिन्तन का विकसित रचना ही 'शास्त्र रचना पद्धति है'। शास्त्र रचना पद्धति तो प्राचीन भारतीय साहित्य की वह विधि है जिसका उल्लेख विश्व के अन्य किसी भी साहित्य में नहीं है। किसी भाषा के मूलभूत तत्त्वों एवं उसकी संरचना तथा शास्त्र योजना को समझने के लिए जिस विश्लेषणात्मक पद्धति एवं प्रक्रिया की आवश्यकता होती है उसकी पूर्ण परिणति ईसा से कई वर्ष पूर्व भारत में हो चुकी थी।

2.2 अनुसंधान का अर्थ एवं अवधारणा

आधुनिक प्रकार के अनुसंधान कार्यों को वैज्ञानिक तर्क विधि का औपचारिक तथा सुव्यवस्थित उपयोग कहा जा सकता है। अनुसंधान वर्तमान ज्ञान के परिमार्जन एवं नवीन ज्ञान के सृजन की एक प्रक्रिया है। मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली प्रगति में अनुसंधान की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सुनियोजित ढंग से समस्याओं का समाधान खोजने की यह एक वैधानिक विधि है। अनुसंधान का उद्देश्य आलोचनात्मक ढंग से किसी समस्या का विश्लेषण करना तथा उसका समाधान खोजना होता है। आँग्ल भाषा में अनुसंधान का पर्याय Research है जो Re (बार-बार) तथा Search (खोज) शब्दों से मिलकर बना है। अतः इस Research शब्द का शाब्दिक अर्थ है बार-बार खोज करना। हिन्दी शब्द अनुसंधान भी अनुवर्ती ढंग से संधान करने की ओर संकेत करता है। परन्तु वास्तव में अंग्रेजी के Research तथा हिन्दी के अनुसंधान शब्दों में क्रमशः प्रयुक्त Re एवं अनु शब्दांश दोहराने या बार-बार कोई कार्य करने के सूचक नहीं है वरन् ये प्रत्यय वास्तव में गहनता या गम्भीरता से कार्य सम्पादित करने के द्योतक हैं। ये शब्द निःसन्देह इंगित करते हैं कि गम्भीरता, गहनता एवं विश्लेषणात्मक ढंग से किसी एक समस्या का आलोचनात्मक अध्ययन करके उसका समाधान खोजना ही अनुसंधान है। यही कारण है कि सुनियोजित ढंग

से सूचनाओं को संकलित करने तथा उनका विश्लेषण करके नवीन तथ्यों अथवा सिद्धान्तों की खोज करने का कार्य ही अनुसंधान प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। अनुसंधान शब्द के लिये प्रायः शोध, गवेषणा, अन्वेषण, परिपृच्छा, खोज या जाँच जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। शोध शब्द शुद्धिकरण का सूचक है जो अत्यन्त शुद्धता व यर्थाथता के साथ किसी कार्य को करने का भाव प्रतिध्वनित करता है। गवेषणा शब्द प्राचीन काल में जंगल से लौटती गायों के भटक जाने पर उनके खुरों के निशान देखकर खोजने के कार्य के लिये प्रयुक्त किया जाता था एवं कालान्तर में इस शब्द का प्रयोग सप्रमाण व व्यवस्थित ढंग से खोज करने के प्रयास के रूप में होने लगा है।

अनुसंधान की परिभाषा

पी.एम. कुक ने अनुसंधान की विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया है कि किसी दी गई समस्या के सन्दर्भ में ईमानदारी, व्यापकता, समझदारी से तथ्यों की खोज करना तथा उनके अर्थ या निहतार्थों को प्रस्तुत करना अनुसंधान है। किसी दिये गये अनुसंधान कार्य के परिणामों व निष्कर्षों को उस अध्ययन के क्षेत्र में ज्ञान में वृद्धि करने वाले प्रामाणिक, पुष्टि योग्य योगदान करने वाले होने चाहिए।

डब्ल्यू. एस. मॉनरो के अनुसार, “अनुसंधान को समस्याओं के अध्ययन की उस विधि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें समाधानी को आंशिक अथवा पूर्ण रूप से तथ्यों के आधार पर प्रतिपादित किया जाता है।”

स्पष्ट है कि अनुसंधान किसी अर्थपूर्ण व मौलिक समस्या का समाधान खोजने का एक ऐसा व्यवस्थित, वस्तुनिष्ठ, सोद्देश्य, तर्कसंगत तथा इन्द्रियानुभविक प्रयास है जिसमें वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया जाता है। निःसन्देह यह प्रक्रिया स्वसंशोधनीय, पुनरावृत्ति योग्य होते हैं।

विधि के आधार पर अनुसंधान वर्णात्मक, ऐतिहासिक तथा प्रयोगात्मक तीन प्रकार के अनुसंधान प्रचलित है तथा आधारसामग्री के प्रकृति के आधार पर संप्रत्यात्मक अनुसंधान और अनुभवजन अनुसंधान माना गया है। तंत्रयुक्ति सम्प्रत्यात्मक अनुसंधान से बहुत गहरे रूप से जुड़ी हुई है।

2.3 शास्त्र

शास्त्र किसे कहा जाता है— शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रम् शास्त्र + ष्ट्रन वाचस्पत्यम् अर्थात् शासन करने वाले ग्रन्थों को शास्त्र कहा जाता है। शासन करने का अर्थ है — मनुष्यों के लिए शुभाशुभ कार्यों का निर्देशन करने वाला। शास्त्र की परिभाषा हम इस श्लोक से प्राप्त कर सकते हैं—

श्रेयान्द्रव्यमयाघज्ञानयज्ञः परन्तप ।

सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्ये ॥

हे परन्तप अर्जुन। द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं। जो शिक्षा अनुशासन प्रदान कर हमारी रक्षा करती है, मार्गदर्शन करती है, कभी-कभी हमारी उंगली पकड़कर हमें चलाती है, उसे “शास्त्र” कहा गया है। इस प्रकार यदि हम शास्त्र व ग्रन्थ की ओर देखें तो शास्त्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

प्राचीन चिन्तनों ने न केवल शास्त्रपरक ग्रन्थों का प्रणायन किया वरन् किसी भी शास्त्र की रचना कैसे कर सकते हैं। किस प्रकार शास्त्र को दोष रहित, सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित रूप दे सकते हैं। इसका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।

शास्त्र के निर्माण की एक पद्धति होती है जिसका निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है जिसका प्रारम्भिक रूप भाषा चिन्तन है जो वर्तमान सदी में स्वयं एक स्वतन्त्र विषय बन गया है। इस पद्धति के आवश्यक उपकरणों को 'तन्त्रमुक्ति' पद से अभिहित किया गया है।

तन्त्रयुक्ति सटीक व्यावहारिक अनुप्रयोग के लिए इसके सही स्पष्ट अर्थ की व्याख्या करने के लिए तंत्र (विज्ञान) का अध्ययन करने की पद्धति या तकनीक या प्रणालीगत दृष्टिकोण है।

'तन्त्र' शास्त्र/चिकित्सा का ही पर्यायवाचक शब्द है, और 'युक्ति' का अर्थ योजना होता है। अतः 'तन्त्रयुक्ति' का अर्थ शास्त्र की योजना होता है।

'त्रायते शरीरमनेनेति तन्त्रं शास्त्रं चिकित्सा च, तस्य युक्तयो योजनास्तन्त्रयुक्तयः।

(आचार्य डल्हण)

इससे शरीर की रक्षा होती है, इसलिए यह तन्त्र है। इसे शास्त्र तथा चिकित्सा भी कहते हैं। उसकी युक्ति अर्थात् योजना 'तन्त्रयुक्ति' कही जाती है। शरीर की रक्षा शास्त्र और चिकित्सा दोनों से ही की जाती है। शास्त्र के द्वारा आध्यात्मिक तथा नैतिक पक्ष की रक्षा होती है और चिकित्सा से शरीर की रक्षा होती है।

'युक्ति' का अर्थ है— योजना, उपाय, न्याय, नीति आदि। इस प्रकार तंत्र युक्ति का शाब्दिक अर्थ है— तंत्र की योजना।

2.3.1 तन्त्रयुक्ति—प्रयोजन

'वाक्ययोजनमर्थयोजनञ्च न च। (सु. उत्तरस्थान 65/4)

वाक्य योजना और अर्थ—योजना में तन्त्रयुक्ति के प्रयोजन कहे जाते हैं। उनमें योगोद्देश निर्देश आदि वाक्य—योजना जो योजनाएँ वाक्य में शब्दों के हेरफेर, अन्वय आदि पर बल देती हैं तथा अधिकरण पदार्थादि तन्त्र—योजना— जो योजनाएँ लीन अर्थ को प्रकाशित करती अथवा असंगत अर्थों को संगति प्रदान करती हैं। पुनः कहा है—

यथाम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।

प्रबोधस्य प्रकाशार्थस्तथा तन्त्रस्य युक्तयः॥ (सु.0. 67/5-7)

तन्त्रयुक्ति द्वारा असद्वादि प्रयुक्त वाक्यों का प्रतिषेध एवं स्ववाक्य की सिद्धि भी की जाती है। जो अर्थ व्यक्त और युक्त नहीं है, जो लीन और अनिर्मल है एवं जो कोई लेशमात्र कहे गए हैं, उन सभी की साधक तन्त्रयुक्ति हैं। जिस प्रकार कमल—वन का प्रकाशक सूर्य तथा घर का प्रकाशक दीपक है, ठीक उसी प्रकार बोध योग्य विषयों के प्रकाश के लिए तन्त्र की युक्तियाँ हैं। असम्बद्ध वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना और छिपे अर्थों को प्रकाशित करने में इन तन्त्रयुक्तियों का प्रयोग करते हैं। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने आन्वीक्षिकी को दीपक के समान समस्त विद्याओं का प्रकाशक माना है। चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली जो विधियाँ शास्त्र में वर्णित हैं, उनका तन्त्रयुक्तियाँ स्पष्टीकरण करती हैं जबकि आन्वीक्षिकी केवल विचार के नियमों का ही

प्रतिपादन करती है।

तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति—

तनोति तन्यते वा..... । शब्द कल्पद्रुम

(च.सू. 30 / 72)

‘तनु विस्तारे’ धातु से ‘औणादिक ष्टन् प्रत्यय’ के द्वारा तन्त्र शब्द की निष्पत्ति की गयी है, चुरादिगण के तनु धातु में घञ् प्रत्यय लगाने से भी ‘तन्त्र’ शब्द की निष्पत्ति हुयी है।

वृद्ध वाग्भट ने ‘तंत्रयुक्ति’ को ‘युक्तिद’ कहा है। जिस प्रकार स्वर्ण में जड़ा रत्न उत्तम होता है, उसी प्रकार यह शास्त्र भी छत्तीस तंत्र युक्ति पदों से अलंकृत है। इन तन्त्रयुक्तियों द्वारा वैद्य इस वाडमय तक पहुँच सकते हैं अर्थात् कठिन अर्थ को समझ सकते हैं।

लघु वाग्भट ने— इति तन्त्रगुणैर्युक्तं तन्त्रदोषैर्विवर्जितम्।.....स्थितम्।। इसे ‘तन्त्रगुण’ कहा है।

शास्त्रज्ञान के लिए तन्त्रयुक्ति का महत्त्व—

आधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्तया बिना भिषक्।

नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान् भाग्यक्षये यथा।। च.सि. 12/48

यदि आयुर्वेद के ज्ञान को प्राप्त करने का इच्छुक पुरुष तन्त्रयुक्तियों को बिना समझे शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ कर देता है, तो वह आयुर्वेद के तात्त्विक (रहस्यमय) अर्थों को नहीं समझ सकता। जैसे भाग्य के क्षीण हो जाने पर अर्थात् दुर्भाग्य के उदय हो जाने पर मानव अर्थों (धन, सम्पत्ति आदि) को प्राप्त नहीं कर सकता, भले ही वह कितना ही परिश्रम करें। वास्तव में तन्त्रयुक्तियाँ शास्त्र को समझने की सही दिशा का निर्देश करती हैं और उसके गुप्त रहस्यों को प्रकट करने में सहायक होती हैं।

प्राचीनकाल में यह परम्परा थी कि शास्त्र— विशेष की रचना में सोचने के जिन विशेष तकनीकी ढंगों, व्याकरण एवं रचना की शैलियों अथवा युक्तियों का उपयोग किया जाता था ग्रन्थ के अन्त में प्रायः उनका निर्देश कर दिया जाता था। इससे उस शास्त्र को समझने में सहूलियत होती थी। चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट ने भी इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए अपने-अपने शास्त्रों में प्रयुक्त तंत्रयुक्तियों का ग्रन्थ के अन्त में उल्लेख कर दिया है। चरक के सिद्धिस्थान बारहवाँ अध्याय, सुश्रुत उत्तरतंत्र पैसठवाँ अध्याय तथा अष्टांगसंग्रह उत्तरतन्त्र पचासवाँ अध्याय में इनका उल्लेख है।

तन्त्रयुक्ति संख्या— सुश्रुत संहिता के उत्तर तंत्र के प्रतिसंस्कर्ता “नागार्जुन” महर्षि सुश्रुत (4–7वीं शती) ने बत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ बतलायी हैं।

1. अधिकरण, 2. योग, 3. पदार्थ, 4. हेत्वर्थ, 5. उद्देश, 6. निर्देश, 7. उपदेश, 8. अपदेश, 9. प्रदेश, 10. अतिदेश, 11. अपवर्ग, 12. वाक्यशेष, 13. अर्थापत्ति, 14. विपर्यय, 15. प्रसंग, 16. एकान्त, 17. अनेकान्त, 18. पूर्वपक्ष, 19. निर्णय, 20. अनुमत, 21. विधान, 22. अनागतावेक्षण, 23. अतिक्रान्तावेक्षण, 24. संशय, 25. व्याख्यान, 26. स्वसंज्ञा, 27. निर्वचन, 28. निदर्शन, 29. नियोग, 30. विकल्प, 31. समुच्चय, 32. 0ह्न।

इन तन्त्रयुक्तियों द्वारा शास्त्र की गूढ़ता को ठीक से समझा जा सके। जबकि चरक संहिता के प्रतिसंस्कर्ता दृढबल ने सुश्रुत संहिता में वर्णित 32 तथा 4 और भी उसमें मिलाकर कुल 36 तंत्रयुक्तियों का वर्णन किया है जो निम्न है— 1. प्रयोजन, 2. प्रत्युत्सार, 3. उद्धार और 4. सम्भव।

अष्टांग संग्रह (वृद्ध वाग्भट्ट कृत 6वीं शताब्दी ईस्वी) और अष्टांग हृदय (लघु वाग्भट्ट कृत 7वीं शताब्दी ईस्वी) में चरकोक्त 36 तंत्रयुक्तियों का ही वर्णन मिलता है। नागार्जुन से पूर्व कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सुश्रुत के समान ही 32 तन्त्रयुक्तियों का वर्णन मिलता है। चरक संहिता के टीकाकार भट्टार हरिचन्द्र ने चरकन्यास में चरकोक्त 36 के अतिरिक्त 4 और भी तन्त्रयुक्तियों को समाहित कर 40 की संख्या बतायी है— 1. परिप्रश्न, 2. व्याकरण, 3. व्युत्क्रान्ताभिधान और 4. हेतु।

इस प्रकार तंत्रयुक्तियों की संख्या सुश्रुत ने 32, चरक ने 36 तथा भट्टाहरिचन्द्र ने 40 बतलाई है। इससे हमें यह दृष्टि प्राप्त होती है कि भारतीय शोध प्रणाली में निरन्तर विकास होता रहा है। यदि तंत्रयुक्तियों पर पुनःविचार किया जाय, तो हमें इनके स्वरूप में नये तत्त्वों को जोड़ना पड़ेगा।

तंत्रयुक्तियों का लक्षण—

1. अधिकरण (Subject Matter)—

तत्र यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणं, यथा रसं दोषं वा।। सु.उ. 65/8

जिस विषय पर अधिकार करके कहा जाय उसे 'अधिकरण' कहते हैं— जैसे रस या दोष के आधार पर चिकित्सा प्रतिपादित की जाती है।

अधिकरण का अर्थ है मूल—विषय या विषयवस्तु। यह शब्द प्रायः निम्न दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—

क. किसी विषयविशेष को अधिकृत कर अथवा उसे आधार बनाकर उसका विवेचन करना यथा रसाधिकार, दोषाधिकार, दीर्घजीवनीयाध्याय आदि। विषय वस्तु की व्यापकता अथवा सीमा के आधार पर इसके अन्य भेद भी सम्भव है— यथा ग्रन्थाधिकरण, अध्यायाधिकरण, प्रकरणाधिकरण, वाक्याधिकरण आदि।

ख. सामान्य रूप से कहे गये विषय को विशेष अर्थ में ग्रहण करना; यथा "कोई सात दिन पर, कोई दस दिन पर औषधि देने का आदेश देते हैं"— प्रसंग वश इसे ज्वराधिकार में ग्रहण करना।

2. योग (Arrangement)—

योग का अर्थ है— "व्यवस्था" "सम्बन्ध" या "जोड़"। जब छितराए हुए पदों का अर्थ की दृष्टि से व्यवस्थित कर पास—पास बैठाया जाता है या प्रसंगोचित अर्थ को प्रकाशित करने के लिए उनका अर्थान्वय किया जाता है तो उसे योग कहते हैं। उदाहरण के लिए 0पर दिये गये श्लोक में ठीक—ठीक अर्थ करने के लिए "तैलं सिद्धं पिवेत्" को एकसाथ लेना होगा जबकि इसमें तैलं शब्द प्रथम पाद में और सिद्धं शब्द तृतीय पाद में आया है। योग योजना है। व्यस्त अर्थात् पृथक्—पृथक् कहे हुए, पदों को एक साथ इकट्ठा करना 'योग' है। जैसे प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन।

3. पदार्थ (Import of term)–

पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। प्रत्येक पद का अपना अर्थ होता है : अपनी विषयवस्तु होती है जिसकी ओर वह इंगित करता है; जिसके लिए उसका प्रयोग किया जाता है। पद एकार्थक भी होते हैं और अनेकार्थक भी। किसी भी सूत्र अथवा वाक्य में पद का जो अभीष्ट अर्थ होता है अथवा जिसके लिए उसका प्रयोग किया जाता है, उसे पदार्थ कहते हैं।

4. हेत्वर्थ (Extension of Argument)–

जो अन्यत्र कहा हुआ विषय कही हुयी बात जब दूसरे प्रसंगों में भी उसी प्रकार कार्य करती है तो उसे हेत्वर्थ कहते हैं। जैसे जल से मिट्टी का पिण्ड क्लेद युक्त हो जाता है वैसे ही दुग्ध सेवन से व्रण क्लेद युक्त हो जाता है। यहाँ पर बाह्य के दृष्टान्त से आशयन्तर की सिद्धि की गयी है। अन्य के लिए कही हुई जो बात दूसरे अर्थ को सिद्ध करती है, उसे हेत्वर्थ कहते हैं। यथा– पानी से मिट्टी का ढेला गीला होता है उसी प्रकार उड़द, दूध आदि से व्रण भी क्लेदयुक्त होता है।

चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में

जो अन्यत्र कहा हुआ विषय कही हुई बात जब दूसरे प्रसंगों में भी उसी प्रकार कार्य करती है तो उसे हेत्वर्थ कहते हैं। जैसे समान गुण द्रव्य के अभ्यास से धातुओं की वृद्धि होती है। उसी प्रकार रस धातु से आवश्यकतानुसार सभी धातु अपने अपने पोष्य अंशों को ग्रहण कर अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।

16– एकांत तन्त्रयुक्ति

“सर्वत्र यदवधारणोच्यते स एकान्तः।” यथा –

मदनफलं वामयति (एव) 123

सर्वावस्था में होने वाली जो बात निश्चयात्मक रूप में कही जाय, अर्थात् जो बिना विकल्प के निश्चित रूप से कही जाय वह एकांत है। जैसे– निशोथ विरेचन करता है। मदन फल वमन कराता है। इसके विपक्ष में कुछ की कहकर इसका खण्डन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार यदि कहा जाता है कि “सूर्योदय पूर्व दिशा में होता है” तो यह एकान्त्र है।

प्रयोग

5. उद्देश (Concise Statement)–

‘समासवचनमुद्देशः। यथा शल्यमिति’। (सु.उ. 65/12)

किसी बात को विस्तार से न कह कर संक्षेप में कह देना उद्देश है। जैसे– सभी पीड़ा पहुँचाने वाले को शरीर अथवा आगन्तुक भेद से यह न कह कर कि पीड़ाकर शारीरिक दोष अथवा आगन्तुक कारण है केवल ‘शल्य’ कह दिया जाय।

उद्देशो नाम सङ्क्षेपाभिधानम्। (चक्रपाणि)

संक्षेप में कहीं बात को ‘उद्देश’ कहते हैं।

6. निर्देश (Amplification/enlUrgement)–

विस्तरवचनं निर्देशः। यथा शारीरमागन्तुकं चेति ॥– सु.उ. 65/13

विस्तरेण भाषणं निर्देशः इत्यर्थः।” डल्हण (सु.उ. 65/13)

विस्तार से कहने का नाम निर्देश है, यथा– शारीरशल्य, आगन्तुजशल्य अर्थात् शल्य दो प्रकार का है– प्रथम शारीर शल्य; द्वितीय आगन्तुक शल्य।

7. उपदेश (Injunction)–

एवमित्युपदेशः। यथा– तथा न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्। (सु.उ. 65/14)

इस प्रकार से करे ये उपदेश है। जैसे– रात्री में जागना नहीं चाहिए और दिन में सोना नहीं चाहिए।

उपदेशोनामप्तानुशासनम्। (चक्रपाणि)

आप्तपुरुषों के अनुशासन हि उपदेश है।

8. अपदेश (Adducement of reason)–

अनेन कारणेनेत्यपदेशः, यथाऽपदिश्यते– मधुरः श्लेष्माणमभिवर्धयतीति ॥15॥

(सु.उ. 65/15)

अनेन कारणेनेति कार्यं प्रति हेतुकथनमुपदेश इत्यर्थः। (डल्हण)

इस कारण से यह कार्य हुआ है, या होता है, ऐसा कहना अपदेश है। यथा– कहते हैं कि मधुर रस कफ को बढ़ाता है।

‘यत्प्रतिज्ञातार्थं साधनाय हेतुवचनम्’। (चक्रपाणि)

प्रतिज्ञात विषय की सिद्धि के लिए जो कारण रूप वचन कहा जाता है, वह अपदेश है।

9. प्रदेश लक्षण (Appeal to a president)–

प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशः। यथा– देवदत्तस्यानेन शल्यमुद्धृतं तथा यज्ञदत्तस्याप्ययमुद्धरिष्यतीति ॥ सु.उ. 65/16

प्रकृत वस्तु के भी आगे जाकर सिद्ध करने का नाम प्रदेश है। यथा– इसने देवदत्त का शल्य निकाला है, इसी प्रकार यज्ञदत्त का भी शल्य निकाला।

10. अतिदेश (Prosticedent to extended application)–

प्रकृतस्यानागतस्य साधनमतिदेशः यथा– यतोऽस्य वायुरुर्ध्वमुत्तिष्ठते तेनोदावर्ती स्यादिति ॥17॥ (सु.उ. 65/17)

प्रकृत अथवा वर्तमान लक्षणों के आधार पर अनागत (भविष्य में होने वाले) रोग की सम्भावना। जैसे– किसी रोगी में वात की उर्ध्वगति को देखकर भविष्य में उसे उदावर्त से पीड़ित होने की सम्भावना करना।

11. अपवर्ग (Exception)–

अभिव्याप्यापकर्षणमपवर्गः, यथा– अस्वेधा विषोपसृष्टाः, अन्यत्र कीटविषादिति ॥18॥ (सु.उ. 65/18)

किसी भी विषय का व्यापक रूप से निषेध या विधान कर उसमें से किसी एक

अंश को उसमें से निकाल देना। सामान्य भाषा में यह 'अपवाद' भी कहा जाता है। जैसे— विष सेवी का स्वेदन नहीं करते हैं किन्तु कीटविष का स्वेदन का स्वेदन करते हैं या बासी अन्न अखाद्य है, किन्तु मांस और हरित् शुष्क साग को छोड़कर।

12. वाक्यशेष (Supply of Clipsis)—

जब किसी पद के न कहने पर भी उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है तब इसे वाक्यशेष कहते हैं, जैसे— शिर, पाणि, पाद आदि कहने पर पुरुष कहे बिना भी पुरुष के ही अंग है ऐसा ज्ञान होता है।

13. अर्थापत्ति (Implication)—

जो न कहा हुआ भी अर्थ से प्रतिपादित होता है, उसको अर्थापत्ति कहते हैं यथा— चावल खांगा यह कहने से अर्थ से समझ लिया जाता है कि, यह यवागू नहीं पीना चाहता। 120।।

दूसरा उदाहरण— रात में दही नहीं खाना चाहिये यह कहने पर दिन में दही खाना चाहिये यह बोध हो जाता है।

14. विपर्यय (Reversed opinion)—

यद्यत्राभिहितं तस्य प्रातिलोभ्यं विपर्ययः।

यथा—कशाल्यप्राणाभीरवो दुश्चिकित्स्या इत्युक्ते विपरीतं गृह्यते दृढादयः सुचिकित्स्य इति। 121।। सु.उ. 65/21

जो कहा जाये उसके विपरीत का नाम 'विपर्यय' है। जैसे— कृश, अल्प प्राण एवं भीरु पुरुष दुश्चिकित्स्य होते हैं। यह कहने पर विपरीत रूप में यह समझ लिया जाता है कि दृढ, बहुप्राण और निडर व्यक्ति सुचिकित्स्य होते हैं।

15. प्रसंग (Restatement)—

पूर्वोक्त अर्थ का प्रकरण में आ जाने से पुनः कहना प्रसंग कहलाता है या प्रकरणों के बीच में जो विषय बार-बार कहा जाता है— समाप्त किया जाता है, उसे प्रसंग कहते हैं। जैसे— पंचमहाभूतशरीरसमवाय पुरुष है, उसी में सभी शारीरिक क्रियायें होती हैं, और चिकित्सा का अधिष्ठान है (सु.सू. 1/1), यह कहकर उसे पुनः 'भूतचिन्ताशरीर' (सु.शा. 1) में प्रकरणवश उद्धृत करना प्रसंग कहा गया है और वही कर्म पुरुष चिकित्सा में अधिकृत है।

16. एकान्त (Categorical/Certainty Statement)—

(सर्वत्र) यदवधारणोच्यते स एकान्तः यथा— त्रिवृद्धिरेचयति, मदनफलं वामयति (एव)। 123।। सु.उ. 65/23

जो बिना विकल्प के निश्चित रूप से कहा जाता है, वह एकान्त है। जैसे— निशोथ विरेचन करता है, मदन फल वमन कराता है।

17. अनेकान्त (Compromising Statement)—

कहीं ऐसा और कहीं दूसरा ऐसा यानि दो पक्षों में से एक का भी निश्चय न होना अनेकान्त कहा जाता है। जैसे— कोई आचार्य कहते हैं कि द्रव्य प्रधान है, कोई रस को, कोई वीर्य को और कोई विपाक को प्रधान मानते हैं।

1. चिकित्सकीय विधि में—

यदि किसी व्यक्ति को कोई रोग। बिमारी हो गयी हो तो वह व्यक्ति जिस भी चिकित्सा के विभाग में जाता है तो उसे चिकित्सा विशेषज्ञों द्वारा उसे उस प्रकार की इलाज बतायी जाती है, जैसे— आयुर्वेद पद्धति आयुर्वेदिक चिकित्सा को बताएगा, होम्योपैथिक पद्धति होम्योपैथिक विधि इत्यादि। इस प्रकार अनेकान्त पद्धति का प्रयोग हमें चिकित्सा के क्षेत्र में देखने को मिलता है।

2. अन्वेषण विधि में

अनेकान्त तन्त्रयुक्ति का प्रयोग हमें अन्वेषण विधि में व्यापक रूप से मिलता है। हम किसी भी प्रकार का शोध जब करते हैं चाहे वह सामाजिक विषयों पर हो, तकनीकी विषयों पर हो या किसी अन्य विषय पर आधारित हो। हमारे पहले विभिन्न

18. पूर्वपक्ष (Objection)—

आक्षेपापूर्वकप्रश्न को पूर्वपक्ष कहते हैं, जैसे— वातजन्य चार प्रमेह किस कारण से असाध्य होते हैं।

19. निर्णय (Decision)—

पूर्वपक्ष के उत्तर को अथवा विचारपूर्वक विषय की स्थापना का निर्णय कहते हैं। जैसे— वायु शरीर की धातु (वसा, मज्जा और मेद) को दूषित कर वस्ति में जाकर वसा, मेद और मज्जायुक्त से मिला मूत्र वायु त्याग करता है, इसलिए वातजन्य प्रमेह असाध्य है।

20. अनुमत (Concession/Approval Others Opinon)—

दूसरे मत को स्वीकार करना (विरोध न करना) अनुमत है। जैसे— दूसरा कहे सात रस हैं, इसका विरोध न करने से किसी भी प्रकार में सहमत होना अनुमत है।

21. विधान (Right Order)—

प्रकरण के अनुसार कहने का नाम विधान है। जैसे— टांग के मर्म ग्यारह प्रकरण के अनुसार कह दिये हैं।

22. अनागतावेक्षण (Prospective references)—

भविष्य में अर्थात् आगे कहा जाने वाला विषय 'अनागतावेक्षण' है। जैसे— श्लोक (सूत्र) स्थान में किसी विषय के बारे में कहा जाये कि इसे चिकित्सा स्थान में कहा जायेगा।

23. अतिक्रान्तावेक्षण (Retrospective References)—

जहाँ पूर्व में कहे गये विषय वर्णित हो वही अतिक्रान्तावेक्षण है। जैसे— श्लोक स्थान में जैसा कहा है, उसे चिकित्सा में वैसा ही बोला जाये। जैसे— चिकित्सा में कहे कि— श्लोकस्थान में जैसा कहा है।

चरक सि स्थान में 'अतिक्रान्तावेक्षण' के स्थान पर 'अतीतावेक्षण' नाम मिलता है, इसे संग्रहकार भी इसी नाम से जानते हैं। किन्तु सु.उ. तंत्र में अतिक्रान्तावेक्षण नाम ही दिया गया है।

24. संशय (Doubt)–

हेतु का दोनों में घटना संशय है। जैसे— तलहृदय (मर्म) पर चोट लगना प्राणहर है, जबकि हाथ पैर का काटना प्राणनाशक नहीं है।

25. व्याख्यान (Explanation)–

किसी विषय का अतिशय रूप से वर्णन करना व्याख्यान है। जैसे— सुश्रुत संहिता में पच्चीस तत्त्व वाले पुरुष का आख्यान किया गया है, दूसरे आयुर्वेद तंत्रों में भूतादि को अहंकार से प्रारम्भ करके (अव्यक्त से नहीं) व्याख्यान किया जाता है।

26. स्वसंज्ञा (Technical Terminology)–

अन्य शास्त्रों में सामान्य रूप से न पायी जाने वाली लेकिन अपने शास्त्र के अनुकूल किसी वस्तु के नामकरण या संज्ञा प्रदान करने को 'स्वसंज्ञा' कहते हैं। जैसे— आयुर्वेद में मधु घृत के लिए मिथुन संज्ञा, हरड़, बहेड़ा और ऑवला के लिए त्रिफला संज्ञा दी गयी है।

शास्त्रकार व्यवहार के लिए अपने शास्त्र में सीमित संज्ञाएँ बना लेते हैं, जो अन्य शास्त्रों में नहीं प्रचलित होती या अन्यत्र उनका अर्थ दूसरा होता है। जैसे— घी-तैल के लिए 'यमक' संज्ञा दी गयी है। इसी प्रकार घी-तैल-वसा-मज्जा के लिए आयुर्वेद में 'महास्नेह' की 'स्वसंज्ञा' दी गयी है।

27. निर्वचन (Certain)–

निश्चित रूप से बताना 'निर्वचन' कहलाता है; जैसे— जिस शास्त्र के आदेशों के पालने से आयु का लाभ होता है वह आयुर्वेद कहलाता है (आयुर्विद्यतेऽस्मिन्ननेन) या जिससे आयु के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है (आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः), वह आयुर्वेद है।

28. निदर्शन (Analogy)–

जहाँ दृष्टान्त के द्वारा अर्थ समझ में आता हो वह 'निदर्शन' कहलाता है; जैसे— अग्नि हवा के सम्पर्क में आने से वृद्धि को प्राप्त होकर तृणादि (घास-फूस) के ढेर को जला देती है उसी प्रकार वात, पित्त और कफ दोष के प्रकोप से व्रण (Boil/Ulcer) में विकार की वृद्धि होती है।

विमर्श— चक्रपाणि ने 'निदर्शन' की यह परिभाषा की है कि 'जिसके द्वारा विद्वान् और मुख् व्यक्ति भी विषय को भली प्रकार समझ सके वह निर्देशन है; जैसे— विष, शस्त्र और अशनि (वज्र) अज्ञानता के कारण प्राणनाश कर देते हैं उसी प्रकार औषध भी अज्ञानता में प्रयुक्त किये जाने पर प्राणहर होती है।

29. नियोग (Mission/Official or Authoritative instructions)–

इदमेव कर्तव्यमिति नियोगः। यथा— पथ्यमेव भोक्तव्यमिति।।37।। सु.उ. 65/37

'यही करना चाहिए', इस प्रकार का आदेश 'नियोग' कहलाता है। जैसे— पथ्य भोजन का ही सेवन करना चाहिए।

30. समुच्चय (Aggregation)–

अनेक विषयों का एक ही साथ समावेश करना 'समुच्चय' कहलाता है। जैसे मांसवर्ग में हरिण का मांस एवं एणमृग का मांस प्रधान होता है, वैसे ही तित्तिर, शारंग, लावा आदि पक्षियों का मांस भी प्रधान होता है।

31. विकल्प (Alternative & Option)–

जहाँ बात को द्विविधा के साथ कहा जाता है, उसे 'विकल्प' कहते हैं। जैसे— या तो मांसरस और भात खाना चाहिए या घृतयुक्त यवागू का सेवन करना चाहिए।

32. उह्य (Deduction)–

किसी ग्रन्थ में जो विषय शब्दतः का उल्लेख नहीं कहा गया हो, किन्तु बुद्धि से तर्कपूर्वक उस विषय को समझ लिया जाये उसे 'उह्य' कहते हैं। जैसे अन्न चार प्रकार का बताया गया है— भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेय। यदि किसी स्थान पर अन्नपान के प्रसंग में दो अन्न का उल्लेख है तो वहाँ स्वबुद्धि से अन्य शेष दो का ग्रहण कर लिया जाता है। चार प्रकार के आहार का प्रचलन कम और दो प्रकार के आहार का प्रचलन अधिक है। अतः द्वित्व (अन्न—पान) प्रसिद्ध है। और भी— अन्न कहने से भक्ष्य और पान कहने से लेह्य का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि ठोस होने से अन्न का भक्ष्य से और दूव होने से पेय का लेह्य से साधर्म्य है।

विशेष— आचार्य सुश्रुत ने 32 तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया है। आचार्य चरक ने उनके साथ 4 अन्य तन्त्रयुक्तियों को जोड़ा है, जिससे उनकी संख्या 36 हो गयी, वे हैं— 1. प्रयोजन, 2. प्रत्युत्सार, 3. उद्धार और 4. सम्भव। भट्टारहरिचन्द्र ने— 1. परिप्रश्न, 2. व्युत्क्रान्ताभिधान, 3. व्याकरण और 4. हेतु— इन चार अतिरिक्त तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया है। किन्तु चक्रपाणि आचार्य का कहना है कि इन चारों तन्त्रयुक्तियों का पूर्वोक्त तन्त्रयुक्तियों में अन्तर्भाव हो जाता है, जैसे— परिप्रश्न का उद्देश में, व्याकरण का व्याख्यान में, व्युत्क्रान्ताभिधान का निर्देश में और हेतु का प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश इन प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव चरकाचार्य ने अलग से इनके वर्णन की आवश्यकता नहीं समझी है। चरकोक्त जिन 4 अधिक तन्त्रयुक्तियों का नामोल्लेख किया गया है उनका विवरण इस प्रकार है—

1. प्रयोजन (Purpose)–

प्रदेशोद्देशनिर्देशवाक्यशेषाः प्रयोजनम् । उपदेशापदेशातिदेशार्थापत्तिनिर्णयाः ॥42॥
(च.सि. 12/42)

जिस उद्देश्य के लिए शास्त्र की रचना होती है अथवा जिस लक्ष्य की सिद्धि के लिए किसी कार्य का आरम्भ किया जाय, वह लक्ष्य प्रयोजन कहलाता है। जैसे— **धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्** (च.सू. 1)। यहाँ आयुर्वेद का प्रयोजन शरीर में धातुसाम्य— स्थापन कहा गया है।

2. प्रत्युत्सार (Rebuttal/DisclEimer/Disproof)–

प्रत्युत्सारस्तथोद्धारः सम्भवस्तन्त्रयुक्तयः ।

प्रमाण और युक्ति के द्वारा दूसरे के मत का खण्डन करना 'प्रत्युत्सार' कहलाता है। जैसे वायोविद् आचार्य ने जब तक कहा कि पुरुष की उत्पत्ति रस से होती है और रोगों की भी उत्पत्ति रस से ही होती है तब हिरण्याक्ष ने कहा कि आत्मा रसज नहीं है। यह प्रत्युत्सार का उदाहरण है।

3. उद्धार (Reaffirmation/Reasserting)–

दूसरे के मत का खण्डन करके अपने पक्ष का समर्थन करना 'उद्धार' कहलाता है। जैसे— पुरुष एवं रोगों की उत्पत्ति के सम्बन्ध की सम्भाषागोष्ठी में अन्य मतों का खण्डन कर यह कहना कि जिन भावों की समृद्धि से पुरुष की उत्पत्ति होती है, उन्हीं भावों की विपन्नता से रोगों की उत्पत्ति होती है।

4. सम्भव (Possibility)–

जो वस्तु जहाँ से उत्पन्न होता है, वह उस उत्पन्न होने वाले को 'सम्भव' कहलाता है। जैसे— मुख/मुह के 0पर व्यंग, नीलिका आदि रोग होते हैं और मुख इनकी उत्पत्ति का स्थान होने से 'सम्भव' कहा जाता है।

तन्त्रगुण–

चरक संहिता, विमानस्थान, अध्याय 8 में शास्त्रपरीक्षा का निर्देश किया गया है। इसके अन्तर्गत यह बतलाया गया है कि ग्राह्य शास्त्र के कौन-कौन से गुण होते हैं। यहाँ चरकसंहिता, विमानस्थान अ. 8/3 के आधार पर तन्त्र के ग्रहणीय निम्न गुण निर्धारित किये गये हैं— 1. समुदृद्यशस्विधीरपुरुषोसेवितम्, 2. अर्थबहुलम्, 3. आप्तजनपूजितं, 4. त्रिविधशिष्यबुद्धिहितम्, 5. अपगतेपनरुक्तदोषम्, 6. आर्ष, 7. सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्, 8. स्वाधारम्, 9. अनवपतितशब्दम्, 10. अकष्टशब्दम्, 11. पुष्कलरभिधानम्, 12. क्रमागतार्थम्, 13. अर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानम्, 14. सङ्गतार्थम्, 15. असङ्कुलप्रकरणम्, 16. आशुप्रबोधकं, 17. लक्षणवच्च, 18. उदाहरणवच्च। इस प्रकार चरक संहिता के अनुसार वर्णित शास्त्रपरीक्षा के आधार पर उपर्युक्त तन्त्रगुणों का उल्लेख किया गया है, जिसका वर्णन किया जा रहा है।

1. **समुदृद्यशस्विधीरपुरुषोसेवितम्**— जिस शास्त्र के विषय में यह धारणा हो जाए कि शास्त्र महान है, इसे यशस्वी धीर पुरुष पढ़ते हैं और प्रयोग में लाते हैं, इसमें उत्तम विचार हैं, इसका विद्वज्जन यथार्थवक्ता लोग सम्मान करते हैं।
2. **अर्थ बहुलम्**— अर्थ की अधिकता अर्थात् स्पष्ट हो।
3. **आप्तजनपूजितं**— आप्त पुरुषों द्वारा पूजित हो।
4. **त्रिविधशिष्यबुद्धिहितम्**— तीनों प्रकार के शिष्यों (उत्तम, मध्यम और अल्पबुद्धि वाले) के लिए लाभप्रद हो।
5. **अपगतपुनरुक्तदोषम्**— पुनरुक्त (एक ही बात को बार-बार कहना) दोष से रहित हो।
6. **आर्ष**— ऋषियों ने बनाया हो।
7. **सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्**— सम्यक् रूप से लिखा गया, सूत्र-भाष्य और संग्रह के क्रम में हो अर्थात् जिस संग्रह को पहले रखना हो उसे पूर्व में व बाद वाले विषय को उत्तर स्थल में रखा गया हो।
8. **स्वाधारम्**— 'स्वाधारम् शोभनाभिधेयम्'—चक्र। अर्थात् तन्त्र सुन्दर अथवा लाभकारी विषयों से युक्त हो। 'शोभनाभिधेयम्' से शुभ विषयों या शुभ विषयों या शुभ अभिधेय का तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेद में शुभ का अर्थ 'कल्याणकारी' ग्रहण किया जाता है। अतः 'स्वाधारम्' से कल्याणकारी विषयों से युक्त होना समझना चाहिए।
9. **अनवपतितशब्दम्**— तन्त्र अशिष्ट और अश्लील शब्दों से रहित हो।
10. **अकष्टशब्दम्**— जिसके उच्चारण में कष्ट न हो ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया हो।
11. **पुष्कलरभिधानम्**— विषय का वर्णन अधिक रूप में किया गया हो अर्थात् विषयवस्तु का वर्णन विस्तृत रूप में किया गया हो ताकि विषया या ग्रन्थकर्ता का अभिप्राय स्पष्ट हो जाए। जैसे 'त्रिसूत्र' कह देने पर सम्पूर्ण विषय का बोध नहीं होता।

अतः चरकसंहिता में हेतु, लिङ्ग व औषध 'त्रिसूत्र' का वर्णन यथास्थान विस्तृत रूप में किया गया है, जिससे विषय-बोध हो जाता है।

12. **क्रमागतार्थम्**— का तात्पर्य यह है कि प्रकरणानुसार विषय क्रम में वर्णित हो जो परम्परागत बताया गया है।
13. **अर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानम्**— तन्त्र में विषयों के तत्त्व यानि यथास्वरूप का वर्णन प्रधानता के साथ किया गया हो अथवा विषयों का तत्त्व-विनिश्चय करने में प्रधान तन्त्र या ग्रन्थ माना जाता हो।
14. **सङ्गतार्थम्**— का तात्पर्य यह है कि पूर्व व बाद के वाक्यों में विरोध न हो। इस तरह के प्रकरण के अनुसार विषय वाला शास्त्र होना चाहिए। जिस तरह के प्रकरण हो उसके अनुसार ही उस प्रकरण में विषयों का वर्णन किया गया हो, इसे संगतार्थ कहा जाता है।
15. **असङ्कुलप्रकरणम्**— जिसमें प्रकरणानुसार विषय हो। प्रथम प्रकरण का कोई विषय दूसरे प्रकरण में एवं दूसरे का तीसरे में न कहा गया हो। यथा— रोग प्रकरण में द्रव्यादि का वर्णन न हो, उसी प्रकार रस प्रकरण में कर्म या रोगों का वर्णन न हो। इसे असङ्कुलप्रकरणम् कहा जाता है।
16. **आशुप्रबोधकं**— तन्त्र/ग्रन्थ इस प्रकार के विषय, भाषा, शैली आदि से युक्त हो जिसके पढ़ने से शीघ्र ही वह समझ में आ जाए, इसे ही आशुप्रबोधकं कहा जाता है।
17. **लक्षणवच्च**— तन्त्र या ग्रन्थ में विषयों के लक्षणों (परिभाषाओं) का यथोचित रूप में व यथास्थान वर्णन हो।
18. **उदाहरणवच्च**— जिसमें विषयों को उदाहरण से स्पष्ट किया गया हो।

तन्त्रदोष

तन्त्रदोष के ज्ञान की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए तन्त्रयुक्ति में शंकर शर्मा कहते हैं कि अंगों का दुष्टलक्षणों से रहित होना यानि दोष का अभाव होना ही अंग का आभूषण कहा जाता है। इसलिए दोषों का अलंकार से सम्बन्ध होने के कारण दुर्लक्षणों का ज्ञान अति आवश्यक है; क्योंकि जब तक इन दोषों का ज्ञान नहीं होगा तब तक शास्त्र से दोष को दूर नहीं किया जा सकता। इस प्रकार दोषज्ञान के आधार पर शास्त्र के दोष को दूर कर शास्त्र का सम्यक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। भिन्नक्रम दोषयुक्त विषयों का ज्ञान होने पर उसे यथाक्रम किया जा सकता है तथा संदिग्ध का समाधान किया जा सकता है।

इस प्रकार तन्त्र दोष का ज्ञान भी अति आवश्यकत है ताकि यह निर्धारित किया जा सके कि किस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए या किस ग्रन्थ का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

सभी पारम्परिक ग्रन्थ व्यावहारिक शास्त्र है, अतः इनकी रचना में भी अनेक दोष आ सकते हैं। विषय के प्रतिपादन, गुढार्थ ज्ञान और शास्त्रों के ज्ञान के लिए इन दोषों का ज्ञान भी आवश्यक है। जो तंत्रों को दूषित करे उसे तंत्र दोष कहते हैं। महर्षि चरक ने विमानस्थान अध्याय 8 में निम्न पाँच तंत्र वाक्य दोषों का वर्णन किया है—

वाक्यदोष— तत्पश्चात् वाक्यदोष का परिचय प्रस्तुत है— वाक्यदोष उसे कहते हैं, जो किसी अर्थ में न्यून (अपने अभिधेय का निर्वाह करने में कुछ कम समर्थ हो), अधिक

(आवश्यकता से अधिक), अनर्थक, अपार्थक तथा विरुद्ध हो। इन दोषों के बिना वाक्य के स्वाभाविक अर्थ की हानि नहीं होती। इनका क्रमशः परिचय इस प्रकार है—

1. **न्यून**— जिस वाक्य में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन (जिनकी व्याख्या 0पर इसी अध्याय में की गयी है) में से किसी एक की भी कमी हो तो उसमें न्यूनत्व दोष होता है। अथवा जो विषय अनेक प्रकार के उपदेशों से सिद्ध होता हो, उसको यदि एक ही हेतु से सिद्ध किया जाता हो तो वह भी न्यूनत्व दोष है।
2. **अधिक**— न्यूनत्व दोष के लक्षणों से विपरीत को अधिकत्व दोष कहते हैं। अथवा आयुर्वेदीय विषय की व्याख्या के अवसर पर बार्हस्पत्य, औशनस या अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को उद्धृत करना। अथवा उस प्रसंग में जो कुछ भी असंबद्ध बात कही जाय, अथवा सम्बन्धित विषय को भी दो बार कहना, वह पुनरुक्त दोष होने के कारण अधिकत्व दोष होता है। वह पुनरुक्त (एक ही बात को दो बार कहना) भी दो प्रकार का होता है— 1. **अर्थपुनरुक्त** और 2. **शब्दपुनरुक्त**। अर्थपुनरुक्त का उदाहरण— भेषज, औषध और साधन (रोगशमन साधन) ये तीनों शब्द आयुर्वेद में समानार्थक हैं। शब्द पुनरुक्त का उदाहरण— भेषज, भेषज। उक्त दोनों पुनरुक्त के उदाहरणों में भेषज के बाद औषध तथा साधन का दूसरे में द्वितीय भेषज शब्द का प्रयोग पुनः उक्त है, जो दोष है।
3. **अनर्थक**— उस अक्षरसमूह मात्र को अनर्थक कहते हैं; जिससे किसी अर्थ की सिद्धि न होती हो। जैसे— पञ्चवर्ग (1. कवर्ग, 2. चवर्ग, 3. टवर्ग, 4. तवर्ग, 5. पवर्ग) की भांति जो किसी अर्थ के लिए ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी को साहित्यशास्त्र में 'निरर्थकदोष' कहा गया है। जैसे— च, वा, तु, हि इन अक्षरों का गद्य या पद्य में व्यर्थ प्रयोग।
4. **अपार्थक**— इसमें शब्द तो सार्थक होते हैं किन्तु इनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता है, जैसे— चक्र, नक्र, तक्र, वंश, वज्र, निशाकर। ये सार्थक शब्द अनुचित संयोजन के कारण स्वयं अपगत अर्थ वाले हो गये हैं।
5. **विरुद्ध**— जो विषय दृष्टांत, सिद्धान्त या समय के विपरीत होते हैं। यह तीन प्रकार का होता है— क. सिद्धान्त विरुद्ध, ख. दृष्टांत विरुद्ध और ग. समय विरुद्ध कथन।

क. सिद्धान्त विरुद्ध— भेषज असाध्य रोगों को दूर करने में समर्थ है।

ख. दृष्टांत विरुद्ध— अग्नि वैसे ही उष्ण है जैसे— जल।

ग. समय विरुद्ध— यह तीन प्रकार का है—

घ. **आयुर्वेदिक विरुद्ध**— चिकित्सा के चतुष्पाद (भेषक, औषध, उपस्थाता, परिचारक) और रोगी भेषज है। किन्तु यह कहना कि चतुष्पाद भेषज नहीं है यह 'आयुर्वेदिक समय विरुद्ध' है।

ङ. **याज्ञिक समय विरुद्ध**— यज्ञ में पशुओं की बलि देनी चाहिए यह 'याज्ञिक समय' है, किन्तु यज्ञ में बलि का न देना 'याज्ञिक समय विरुद्ध' है।

च. **मोक्षशास्त्रिक समय विरुद्ध**— सभी प्राणियों से अहिंसा का व्यवहार मोक्षशास्त्रिक है किन्तु यह कहना कि सभी प्राणी बध्य हैं, यह 'मोक्षशास्त्रिक समय विरुद्ध' है।

2.4 सारांश

वैदिक ज्ञान से आजतक के ज्ञान के निरन्तर प्रवाहमान परम्परा से स्पष्ट है कि भारत में प्राचीनकाल से ही अनुसंधान एवं अनुसंधान पद्धतियों की परम्परा अस्तित्व में थी जिसे तन्त्रयुक्ति कहा जाता था। वह श्रृंखला मध्यकाल में प्रभावित हुई थी। आज यह आवश्यकता है कि प्राचीन अनुसंधान पद्धतियों पर विचार करके नयी अनुसंधान पद्धति प्राप्त करें तथा इनका प्रयोग करें जिससे भारतीय ज्ञान परम्परा की समग्रतावादी व्यवहार विज्ञान प्राप्त हो सकें। प्राचीन अनुसंधान पद्धति तथा आधुनिक अनुसंधान पद्धतियों में समन्वय बैठाया जा सकें।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

अपवर्ग – समाप्ति, जलप्राप्ति, अपकर्षण

वाक्यशेष – अपूर्ण वाक्य।

विपर्यय – विपरीत अर्थ की कल्पना करना।

विधान – क्रम से रखना, व्यवस्था अनागतवेक्षण – जो विषय सामने नहीं आया है, उस पर करना।

अतिक्रान्तावेक्षण – बीती हुई बातों पर पुनः विचार करना।

स्वसंज्ञा – अन्य शास्त्रों के समान न होना ही 'स्वसंज्ञा' है।

निदर्शन – दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट करने का नाम निर्देशन है।

उपदेश – विशिष्ट निर्देशन

2.6 सन्दर्भग्रन्थ

1. चरकसंहिता
2. कौटिल्य अर्थशास्त्र
3. अनुसंधान संदर्शिका, प्रो. एस.पी. गुप्ता, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद
4. The Doctrine of Tantryukti डॉ डब्ल्यू के.लेले तन्त्रयुक्ति
5. प्राचीन भारत में अनुसंधान पद्धति, प्रो. ओमप्रकाश सिंह का लेख
6. तन्त्रयुक्ति, वैद्यसागर मिश्र
7. तन्त्रयुक्ति, नीलमेघ भिषगाचार्य

2.7 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय शोधप्रविधियों की विवेचना कीजिए।
2. तन्त्रयुक्ति किसे कहते हैं? तन्त्रयुक्ति के स्वरूप एवं वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।
3. तन्त्रगुण तथा तन्त्रदोष किसे कहते हैं? विवेचना कीजिए।
4. अनुसंधान से आप क्या समझते हैं? प्राचीन भारत के विकसित अनुसंधान प्रणाली की विवेचना कीजिए।